

मुसलमानों की शिक्षा: एक नजरिया

राधिका चतुर्वेदी की फरीदा खान से बातचीत

नवम्बर, 2006 में सच्चर कमेटी की रिपोर्ट आई। इस रिपोर्ट से मुसलमानों की सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक हालात पर नई बहस की शुरुआत हुई। उम्मीद की जा रही थी कि इसके बाद उनकी स्थिति में कुछ बदलाव आएंगे। करीब आठ साल बीत जाने के बाद मुसलमानों की शैक्षिक स्थितियों में क्या कोई बदलाव आए हैं? मुसलमानों की मौजूदा शैक्षिक स्थिति को समझने के लिए राधिका चतुर्वेदी ने प्रोफेसर फरीदा खान से यह बातचीत की है।

प्रश्न : हमारे देश में जिन्हें अल्पसंख्यक करार दिया गया है वे हैं- ईसाई, सिख, मुस्लिम, पारसी, जैन इत्यादि। इन अल्पसंख्यक समुदायों का शिक्षा से जुड़ाव किस प्रकार का रहा है?

उत्तर : पहले तो यह समझना है कि ये पांच समुदाय हैं। सिख बहुत ही छोटा अल्पसंख्यक समुदाय है। मैं यह नहीं कह रही कि उनकी संस्कृति अलग नहीं है मगर उसका बहुसंख्यक हिन्दू संस्कृति के साथ जुड़ाव है। पंजाब में उनकी भी समस्याएं अलग-अलग किस्म की हैं। मगर आर्थिक लिहाज से वह बहुत पिछड़ा समुदाय नहीं रहा है। पारसी समुदाय तो बहुत अलग है और वह बहुत ही छोटा समुदाय है। पारसी एक संपन्न समुदाय है हालांकि गरीब पारसी भी हैं लेकिन औरों की बनिस्वत बहुत ही कम हैं। ईसाइयों की कुछ स्तरों पर समान समस्याएं हैं। उनके साथ गुजरात और उड़ीसा आदि में अलगाव और सांप्रदायिकता की समस्याएं हैं। चूंकि भारत में ईसाइयों के मिशनरी स्कूलों का चलन रहा है। इसलिए शिक्षा के लिहाज से उन्हें काफी फायदा रहा है, वे शिक्षा में पिछड़े नहीं हैं। शिक्षा संस्थान उनकी मदद

करते हैं। भारत में शिक्षा संस्थानों के जरिए ईसाई धर्म परिवर्तन भी हुए हैं। इसलिए मुझे लगता है कि बाकी अल्पसंख्यकों के बनिस्वत उनका शैक्षिक स्तर ऊंचा रहा है।

ऐसे में मुसलमानों की समस्याएं बाकि अल्पसंख्यक समुदायों से अलग हैं। एक तो यह कि भारत में मुसलमानों की तादाद बहुत बड़ी है और वे पूरे देश में फैले हुए हैं। यह कहना भी सही नहीं है कि मुसलमान समुदाय एकरूप है, हर अध्ययन में यह निकलकर आता है। जोया हसन और मेनन ने 'मुस्लिम विमेन इन इंडिया' नाम से काफी बड़ा राष्ट्रीय स्तर पर एक अध्ययन किया था और शिक्षा पर भी उन्होंने काफी बड़ा सर्वे करवाया था। उन्होंने जोर देकर कहा था कि भारत के विभिन्न हिस्सों में रहने वाले मुसलमानों में भी फर्क है। मुसलमान कोई एकरूप समुदाय नहीं है और यह कहते हुए भी मुसलमानों की कुछ समस्याएं पूरे देश में समान हैं। एक तो यह कि वे सामाजिक-आर्थिक तौर पर पिछड़े हैं। इसलिए वे बाकी सूचकांकों पर भी कमतर हो जाते हैं। इसलिए उनका आर्थिक विकास बाकी समुदायों से पीछे है। उच्चवर्गीय मुसलमानों के बाकी सूचकांक अलग रहते हैं लेकिन ज्यादातर मुस्लिम समुदाय गरीब हैं इसलिए उनके सूचकांक भी अलग हैं।

दूसरी बात मैं यह कहूंगी, मुझे ऐसा लगता है कि ऐतिहासिक रूप से विभाजन के बाद समस्याएं जटिल हुई हैं। उसे लेकर मुसलमानों के प्रति जो नजरिया है, उससे मुस्लिम समुदाय की समस्याओं को देखने का एक अलग संदर्भ बनता है। उन्हें लगता है कि उन्हें देश

फरीदा खान

जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, दिल्ली में प्रोफेसर हैं और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की सदस्य हैं।

राधिका चतुर्वेदी

अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, बेंगलूर से शिक्षा में एम.ए. करने के बाद दिगन्तर जयपुर में कार्यरत हैं।

का विभाजन करने वाले समुदाय के रूप में देखा जा रहा है। मुझे शिक्षा के क्षेत्र के अनुभवों से ही नहीं बल्कि सांप्रदायिक दंगों इत्यादि के अनुभवों से लगता है कि यह मान्यता काफी गहरी है। मुस्लिम समुदाय के लोगों को लगता है कि उन पर ज्यादा भरोसा नहीं किया जाता। यह काफी आम महसूसियत है। मुझे लगता है कि मुसलमान इस पूर्वाग्रह से हमेशा लड़ते रहते हैं।

प्रश्न : तो क्या इस सबका असर उनकी शिक्षा पर भी पड़ता है?

उत्तर : विभाजन के इतिहास और उसके बाद के विकास के बाद पूरे देश में शिक्षा और बाकी चीजों के बारे में जो राष्ट्रवादी नीतियां रही हैं, मैं यह नहीं कह रही हूँ कि वे गलत रही हैं, मगर कुछ पक्षों में वे असंवेदनशील रही हैं। इस बारे में बहुत चर्चा और शोध हुए हैं कि हमने शिक्षा नीतियों और पाठ्यचर्या में अनेकता में एकता लाने की जो बात की थी, उसे अब लाने की बहुत जरूरत है। एक नजरिये से राष्ट्र निर्माण के संदर्भ में इसे देख सकते हैं। मगर चूंकि अभी तक जो नीतियां रही हैं, उसमें बहुसंख्यक सहज महसूस करते रहे हैं। मैं यह भी नहीं कह रही कि यह बहुत जान-बूझकर किया गया था, लेकिन एक ऐसे संदर्भ में ऐसी अनदेखी हो जाती है, जिसमें यह नहीं दिखता है कि कोई एक समुदाय इस सारी प्रक्रिया से थोड़ा दूर हो रहा है या वह अपनी पहचान नहीं बना पा रहा है। स्कूल में इसका बहुत असर पड़ता है।

प्रश्न : आपको लगता है कि यह स्कूलों में भी होता है?

उत्तर : हां, मुझे अक्सर यह लगता है। तुमने अजरा का वह लेख पढ़ा होगा, 'ग्रीडिंग अप एज मुस्लिम'। इसे 1970 में लिखा गया था। मैं उनकी बात से सहमत हूँ। मसलन, जिस संस्थान में मैं पहले पढ़ाती थी वहां हम बीएड के शिक्षार्थियों का स्कूल शिक्षण के वक्त निरीक्षण करने जाते थे। दीनदयाल उपाध्याय मार्ग पर एक स्कूल था। बिल्कुल वैसी ही चीज वहां पर थी और मुझे लगा कि लोग अगर संदेह से नहीं भी देखते हैं तो लोग मुस्लिम समुदाय को जानते नहीं हैं। वहां पर एक शिक्षक थीं। मैंने उनसे पूछा, "क्या आप इन बच्चों के साथ कभी थोड़ी उर्दू बोलती हैं?" उन्होंने कहा, "मुझे तो उर्दू बिल्कुल नहीं आती।" इन्हीं शब्दों में कहा था कि मुझे उर्दू कैसे आएगी? मेरे लिए यह आश्चर्य की बात थी। दिल्ली जैसे शहर में रहते हुए वह जो हिन्दी बोल रही हैं, उन्हें यह अहसास ही नहीं है कि हिन्दी की अच्छी बोलचाल में आधी तो उर्दू होती ही है।

ऐसा ही अनुभव उन दो त्योंहारों का है जो एक ही हफ्ते में आ रहे थे। दिवाली और ईद। उस कक्षा में पांच-छः मुस्लिम बच्चे थे। हमारी छात्रा जो उस स्कूल में पढ़ा रही थी, मैंने खुद उससे पूछा कि तुम सभी बच्चों को दिवाली के अनुभव लिखवा रही हो, ईद का क्यों नहीं लिखवा रही? जब तुम इनको बोल रही हो कि घर के अनुभव लिखो तो क्या तुम्हें यह ख्याल नहीं आया कि इस हफ्ते ईद भी है। वह थोड़ा घबरा गई। पहले उसने कहा हां, ईद भी आ रही है, मगर इस कक्षा में कोई मुसलमान बच्चा नहीं है। जब मैंने उसका ध्यान दिलाया तो उसे ख्याल आया कि कक्षा में पांच-छः बच्चे मुसलमान हैं। हमारी यह छात्रा कोई सांप्रदायिक नहीं थी लेकिन यह एक आदतन मनः स्थिति की बात है। क्योंकि हमारे शिक्षक दूसरे समुदायों के बारे में जागरूक ही नहीं हैं। जैसे, पारसी कुछ राज्यों में ही केन्द्रित हैं लेकिन मुंबई में पारसी समुदाय के प्रति ज्यादा जागरूकता है जबकि मुसलमान तो पूरे देश में सभी जगह हैं।

यह तो बीएड में पढ़ रही एक छात्रा का किस्सा है। ऐसा ही एम.फिल. की हमारी एक शोधार्थी ने दिल्ली में जमुना पार के कुछ मुस्लिम बहुसंख्यक इलाकों के स्कूलों में शोध करते हुए पाया कि इस इलाके के मुस्लिम बहुसंख्यक स्कूलों में आज भी शिक्षक कभी मुस्लिम त्योंहारों की बात नहीं करते। यह देखकर वह चकित थी। उसने बताया कि हिन्दू और मुसलमानों के कोई दो त्योंहार एक साथ आ रहे थे और स्कूल में हिन्दू त्योंहारों पर तो चर्चा हो रही थी लेकिन मुस्लिम त्योंहारों पर नहीं। मैं यह नहीं कहना चाह रही कि मुलसमाल बच्चों को हिन्दू त्योंहारों का बिल्कुल एहसास नहीं होना चाहिए। मगर ऐसी बहुत छोटी-छोटी चीजों से बच्चों में अलगाव पैदा होता है। हमारे जैसे शिक्षाविद् हर

वक्त यह कहते हैं कि स्कूल की संस्कृति मध्यमवर्गीय संस्कृति है और इसलिए वंचित वर्ग या सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से अभावग्रस्त वर्ग के बच्चों का स्कूल से अलगाव पैदा होता है। उन पर इस चीज का बहुत असर पड़ता है कि वे जिस संस्था में आ रहे हैं, वहां हर चीज उनसे जुदा है। इसी तरह का असर मुसलमान बच्चों पर भी पड़ता है।

प्रश्न : क्या आपके हिसाब से इन्हीं सब कारणों की वजह से मुस्लिम बच्चों का स्कूल ड्रॉप-आउट ज्यादा है? सच्चर कमेटी के आंकड़े तो दिखाते हैं कि काफी मुस्लिम बच्चे उच्च शिक्षा में कदम ही नहीं रख पाते एवं उनकी ड्रॉप-आउट दर ज्यादा होती है?

उत्तर : रोजर जैफरी और ब्रिटिशर जैफरी ने काफी पहले यह बात कही थी कि मुसलमान उच्च शिक्षा में नहीं जाते और उनकी ड्रॉप-आउट दर ज्यादा होती है। उन्होंने मुसलमानों के साक्षात्कार किए थे, जिसे फिर से सच्चर कमेटी ने आंकड़ों के साथ दिखाया है। मुसलमान कहते हैं कि हमारा आगे भविष्य नहीं है। मध्यम वर्ग में स्कूल जाने का यह मतलब कम है कि वहां आत्म-सुधार और विकास होता है, उससे ज्यादा यह है कि रोजगार मिलेगा। जो लोग पढ़-लिखकर रोजगार, सरकारी नौकरी या किसी फर्म में वेतनशुदा नौकरी चाहते हैं या फिर प्रोफेशनल बनना चाहते हैं, उनमें मुसलमानों को लेते नहीं हैं। इसे सच्चर कमेटी में बहुत अच्छे तरीके से दिखाया गया है कि ऐसे संस्थानों में मुसलमानों के रोजगार की दर बहुत कम है।

सुखदेव थोराट ने एक अध्ययन किया था जिसमें उन्होंने मुस्लिम नामों से आवेदन किए थे। उन्होंने पाया कि मुस्लिम नाम वालों को समान योग्यता रखने के बावजूद कम नौकरियां दी गईं। यह बिल्कुल वैसा ही है जैसा निम्न जाति या आदिवासी उम्मीदवारों के साथ हिन्दुओं में होता है। यह सब चीजें इन अध्ययनों से जाहिर हुई हैं। अक्सर यह कहा जाता है कि लड़कों का स्कूल से ड्रॉप-आउट ज्यादा है हालांकि लड़कियां थोड़ा आगे तक पढ़ती हैं क्योंकि उन्हें रोजगार की चिन्ता नहीं होती। लेकिन लड़के रोजगार चाहते हैं इसलिए वे स्व-रोजगार की तलाश में लग जाते हैं। सच्चर कमेटी में जो आंकड़े आए हैं उससे जाहिर होता है कि ज्यादातर मुसलमान अपने बिजनेस, छोटे व्यवसाय या स्व-रोजगार में लग जाते हैं। वे सार्वजनिक क्षेत्र इकाइयों या सरकारी नौकरियों में बहुत ही कम जाते हैं।

प्रश्न : सच्चर कमेटी की रिपोर्ट में मुझे एक बहुत ही दिलचस्प चीज यह लगी कि हिन्दुओं में अन्य पिछड़ा वर्ग या अनुसूचित जाति-जनजाति समुदाय सरकार द्वारा संचालित योजनाओं में बेहतर हैं और सामान्य मुसलमान इनसे भी पिछड़े हैं। मुस्लिम अन्य पिछड़ा वर्ग की स्थिति तो फिर...

उत्तर : मुस्लिम अन्य पिछड़ा वर्ग को तो पहचान नहीं मिल रही है। आरक्षण ने अनुसूचित जाति और जनजाति को शिक्षा में फायदा पहुंचाया है। मेरा कहने का मतलब है, जो सच्चर कमेटी भी कहती है कि जहां मुस्लिम समुदाय है वहां प्रावधान कम हैं। अब आप देखिए कि जहां एक जिले में मुस्लिम समुदाय केन्द्र में है, और जिले में कितने स्कूल होंगे वह भी निश्चित होगा, पर वहां स्कूल एकदम सीमा पर रहेगा जो कि फिर गैर-मुस्लिमों की पहुंच में ज्यादा रहेगा। सच्चर कमेटी की रिपोर्ट ही नहीं बल्कि जिन्होंने मुस्लिम समुदाय पर काम किया है वे दिखा रहे हैं कि उन इलाकों में जहां मुसलमान ज्यादा रहते हैं वहां स्कूल की उपलब्धता कम रहती है। और जो स्कूल वहां हैं उनमें बुनियादी सुविधाएं भी बदतर हैं। मैं यह नहीं कहना चाह रही कि जहां दलित या अनुसूचित जाति के बच्चे हैं वहां यह भेदभाव नहीं होता। वहां भी होता है लेकिन आरक्षण होने से स्कूल खत्म करने के बाद कॉलेज जाने की कुछ उम्मीद बनती है। मुसलमान बच्चों को तो यह भी नहीं है। आप कॉलेज नहीं जा सकते। कॉलेज डिग्री ले लें तो आपको कोई नौकरी नहीं देगा। काफी अध्ययनों से निकलकर आता है कि स्कूलों में जो सांस्कृतिक असहजता रही है वह भी एक वजह है।

जामिया ने मुसलमान बच्चों पर बहुत से अध्ययन किए हैं। केन्द्रीय शिक्षण संस्थान के विद्यार्थियों ने भी कुछ अध्ययन किए हैं। उनमें यह निकलकर आता है कि वे स्कूलों में थोड़ा अलगाव महसूस करते हैं। स्कूलों में जो सांस्कृतिक प्रतीक और बाकी चीजें हैं वे अक्सर इन बच्चों की संस्कृति से नहीं होती हैं। यह भी वजह है। गरीबी की वजह से

बहुत-सी चीजें हैं। जब किसी समुदाय में यह नजरिया बनने लगता है कि पढ़ने के बाद नौकरियां नहीं मिलेंगी तो ऐसे में सामान्यतया आगे बढ़ने की प्रेरणा समुदाय के भीतर कम हो जाती है। लेकिन अब बहुत कोशिश हो रही है। इसलिए मदरसे के नाम पर जो स्कूल बन रहे हैं, उनमें बहुत मुसलमान बच्चे जा रहे हैं और माता-पिता सहज महसूस कर रहे हैं।

प्रश्न : आपने अभी कहा कि मुस्लिम बच्चे मदरसों में काफी तादाद में जा रहे हैं और माता-पिता भी मदरसे के नाम पर काफी सहज महसूस कर रहे हैं। आपके हिसाब से इसके क्या कारण हैं?

उत्तर : मदरसों पर इस वक्त काफी शोध हुए हैं कि मदरसों में मुस्लिम बच्चे क्यों जा रहे हैं। पिछले साल जामिया ने राज्य द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त मदरसों पर 'मदरसा मॉडर्नाइजेशन प्रोजेक्ट' के तहत एक शोध "क्वालिटी एज्युकेशन इन मदरसाज" किया था। हमारे कुछ समूह थे और लगभग 18 राज्यों में यह अध्ययन हुआ था। जम्मू और कश्मीर में उसका थोड़ा मूल्यांकन मैंने भी किया था। इससे पहले मैं सोचती थी कि मदरसों में बिल्कुल अलग तरीके की शिक्षा हो रही है। मगर एक चीज यह है कि मदरसे भी बहुत किस्म के हैं। काफी सारे मदरसे सामान्य स्कूलों जैसे हैं जो निजी स्कूलों की तरह बने हैं, जहां थोड़ी-सी बात दीन की और इस्लाम की होती है। बाकि विषय सामान्य स्कूलों की तरह ही पढ़ाए जाते हैं। चूंकि मदरसों को सरकार से वित्तीय सहायता मिलती है, इस वजह से भी कुछ लोग उनको मदरसा कहकर चलाते हैं। कुछ मदरसे हैं जहां सिर्फ दीनी या इस्लामिक तालीम ही मिलती है। मगर मुझे महसूस हुआ कि जो बच्चे वहां आते हैं, उनमें एक सहजता है क्योंकि वहां के शिक्षक बच्चों की संस्कृति के साथ आसानी से तालमेल बिठा पाते हैं। मुझे लगता है कि यह एक फर्क पैदा करता है। मुसलमानों के शिक्षा से हटकर रहने के ये कुछ कारण हैं जिन्हें सचर कमेटी ने भी बहुत अच्छे से दिखाया है।

मेरे पास एक बहुत ही मजेदार किताब है 'रीडिंग विद अल्लाह'। जादवपुर यूनीवर्सिटी की निलांजना दासगुप्ता ने पश्चिम बंगाल के मदरसों पर बहुत अच्छा अध्ययन किया है। उनका भी यही कहना है। हर जगह जहां वह मदरसों में गईं, पहले उसने यह बात कही है कि हर मदरसा अलग किस्म का है। यह आम महसूसियत है कि मदरसा एक किस्म की जगह है जहां मुसलमान बच्चों को आतंकवाद के लिए तैयार किया जाता है। हर मदरसे में उसे यही मिला कि लोग हमें संदेह की नजर से देखते हैं। वे यह भी लिखती हैं कि किसी से भी बात करो तो यही कहेगा कि मदरसों में आतंकवादी पल रहे हैं। हमें मालूम है कि आतंकवादी के नाम पर कितने मुसलमानों को उठाया जाता है। जितने भी घोषित आतंकवादी हैं उनमें से कोई भी इन मदरसों से नहीं निकला। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह जाना-बूझा है कि आतंकवादी मदरसों की उपज नहीं हैं लेकिन यह एक नजरिया रहा है और चलता जा रहा है।

प्रश्न : अगर यह नजरिया अभी भी चलता जा रहा है, तो माता-पिता अपने बच्चों को मदरसे में भेजने पर कैसे सहज महसूस कर सकते हैं?

उत्तर : मैं एक मिसाल दूंगी। जब यहां सीलमपुर में 1992 में सांप्रदायिक दंगे हुए थे तो हम वहां काम कर रहे थे। जैसे ही दंगे हुए वहां स्कूल तो नहीं लेकिन मुसलमानों के काफी सारे घर जला दिए गए। हिन्दू घर भी जले थे। एक बड़ी-सी बस्ती थी जहां हिन्दू-मुसलमान दोनों रह रहे थे। कुछ हत्याएं भी हुईं। उसमें बच्चों के सर्टिफिकेट जल गए। मुसलमान बच्चों को वापस सर्टिफिकेट निकलवाने के लिए बहुत दौड़-भाग करनी पड़ी। उसके बाद लड़कियों को सब स्कूलों से निकाल लिया गया। हमने माता-पिताओं से बात की तो उन्होंने कहा कि हमें सुरक्षा की चिन्ता है। हमारी लड़कियां यहां से निकलेंगी तो मालूम नहीं आगे क्या होगा। उन्हें एक-दो गली छोड़कर एक-दूसरे के घर में नहीं जाने दिया जाता था। जब समुदाय ऐसी असुरक्षा महसूस करता है तो इससे भी बहुत रुकावट आती है। हमने समझाने की कोशिश की थी लेकिन सभी लड़कियों को स्कूल से निकाल लिया गया था। हमने साक्षरता की कुछ कक्षाएं शुरू की थीं। लड़कियां कहती थीं कि आप आते हो तो हमें बहुत अच्छा लगता है। हम भी एक-दूसरे से बात कर पाते हैं। उन्होंने बताया कि जब से यह दंगे हुए हैं हमें घर से बाहर नहीं निकलने दिया जाता। इन सब चीजों का भी बारीक असर पड़ता है। इसके बाद कहा जाता है कि मुसलमान बच्चों को पढ़ाना नहीं चाहते और बच्चों का नहीं पढ़ाने की सांस्कृतिक वजह है।

प्रश्न : इस बात से हम एक आम गलतफहमी की ओर बढ़ रहे हैं, जहां माना जाता है कि मुस्लिम अभिभावक शिक्षा में ज्यादा रुचि नहीं रखते हैं जबकि सच्चर कमेटी रिपोर्ट तो इस ओर इशारा करती है कि जीविकोपार्जन की जद्दोजहद शिक्षा में अड़चन डालती है।

उत्तर : सच्चर कमेटी के बाद मुसलमान कहते हैं कि हमें रोजगार कहां मिलते हैं। हमें तो कुछ करना है, बच्चों को किसी तरह के कौशल का प्रशिक्षण देना है ताकि कहीं और रोजगार मिल जाए। क्योंकि इनको सरकारी नौकरी तो मिलेगी नहीं। वे कहते हैं कि देखिए, सच्चर कमेटी ने दिखाया है कि समान योग्यता के बावजूद मुसलमानों को नौकरी में नहीं लेते हैं। डिग्री लेने के बाद भी कोई नौकरी नहीं दे रहा है तो पढ़कर क्या करेंगे। मुझे लगता है कि ये कुछ मुद्दे हैं। शिक्षा जरूरी है और ऐसा नहीं है कि मुसलमान शिक्षा नहीं चाह रहे हैं।

किसी और समुदाय की तरह आज आप किसी मुसलमान माता-पिता से बात करें तो वे कहेंगे कि हमें बच्चों को शिक्षित करना है। फिर इस तरह की चीजें आ जाती हैं कि आप स्कूल तो जा रहे हैं लेकिन अपने-आपको कहीं भी सहज महसूस नहीं कर रहे हैं और शिक्षकों के द्वारा भी आपके साथ भेदभाव किया जा रहा है। मैं दिल्ली की बात कर रही हूँ। दिल्ली के बाहरी इलाकों के कुछ स्कूलों में मेरे शोधार्थियों ने अध्ययन किए हैं। अगर वहां पर ऐसा रवैया है कि मुसलमान बच्चे तो ऐसे ही हैं तो दूर-दराज की क्या बात की जाए! शिक्षक कहते हैं कि ये बच्चे तो नहीं पढ़ेंगे, मुसलमानों को पढ़ाई में कहां रुचि होती है। ये तो अलग किस्म के जबान बोलते हैं, इनकी तो सोच ही अलग है। यह वैसी ही सोच है जैसी अनुसूचित जाति और जनजाति तथा पिछड़े वर्ग के बच्चों के बारे में अक्सर देखी जाती है। दिल्ली के नगर निगम स्कूलों में आज तक शिक्षक कहते हैं कि ये पिछड़े वर्ग से हैं, इनको बुद्धि नहीं है। जामिया के एक मेरे शिक्षार्थी ने दिल्ली का दिल कहलाने वाले इलाके के स्कूल में पिछले साल ऐसा ही पाया।

प्रश्न : ऐसे बहुत से नजरिए हैं। सच्चर कमेटी में एक जगह लिखा है कि मुस्लिम समुदाय के बारे में यह भी नजरिया है कि वे मदरसा में शिक्षा को प्राथमिकता देते हैं और आधुनिकता के खिलाफ हैं। लेकिन कमेटी रिपोर्ट दिखाती है कि ऐसा नहीं है। माता-पिता कहते हैं कि मदरसा हमारे लिए एकमात्र विकल्प बनकर रह गए हैं।

उत्तर : बिल्कुल, यह एक बड़ी चीज इस रिपोर्ट से निकलकर आती है। वही मैं कह रही हूँ। एक तो वही विकल्प हैं। दूसरे, इन मदरसों में शिक्षक बच्चों को थोड़ा ठीक से देखते हैं, शिक्षक थोड़ा प्रतिबद्ध रहते हैं और समुदाय की भौगोलिक स्थिति के अनुसार जहां कोई स्कूल नहीं है वहां ये उपलब्ध हैं। साथ ही बहुत से मदरसे समाज सेवा के लिए चलाए जा रहे हैं। इसलिए गरीब मुसलमान बच्चों के पास विकल्प होता है, जहां मुफ्त और उच्च शिक्षा मिलती है। पश्चिम बंगाल में एक नई चीज हुई है, वहां पर मिशन मदरसे की बात आई है जो ईसाई मिशन स्कूल की तर्ज पर चल रहे हैं। ये नियमित स्कूल हैं और पूरी तरह अकादमिक रूप से चल रहे हैं। वहां पर जो बच्चे फीस दे सकते हैं वे फीस देकर पढ़ रहे हैं और कुछ गरीब मुफ्त में पढ़ते हैं। अभी कोई दो साल पहले वे खबरों में थे क्योंकि इनमें से किसी स्कूल के बच्चे ने सिविल सर्विसेज या आईआईटी जैसी किसी बड़ी परीक्षा में टॉप किया था। यह एक तरीके का विकल्प है जो मुसलमान बच्चों को स्कूल जाने के लिए मिल रहा है। ऐसा नहीं है कि मुसलमान बच्चों को सिर्फ दीनी तालीम चाहिए। जोया हसन के अध्ययन में यह बहुत अच्छे से निकलकर आया था कि माता-पिता कहते हैं कि यदि हमें अच्छा स्कूल मिले तो हम मदरसा में अपने बच्चों को नहीं भेजना चाहते। मुसलमान लगातार यह कहते हैं लेकिन यदि हमें अच्छा स्कूल नहीं मिलता है तो हम अपने बच्चों को मदरसा भेजेंगे।

प्रश्न : सच्चर कमेटी रिपोर्ट में सुझाया गया है कि व्यावसायिक शिक्षा को मजबूती दी जाए। कक्षा 9 से शुरू करने की बात कही गई है। इसके मुख्य कारण वही कुछ हैं जिनके बारे में अभी आप जिक्र कर रही थीं कि मुसलमानों को आसानी से नौकरी नहीं मिलती है। निजी संस्थानों की बनिस्बत सरकारी क्षेत्र में उतनी नौकरी नहीं मिल रही है। पर व्यावसायिक शिक्षा एक विवादित मुद्दा है और राज्य अभी तक इसे लागू नहीं कर पाया है। उदारवादी शिक्षाविदों के मुताबिक व्यावसायिक शिक्षा के बजाय उदारवादी शिक्षा ही सबको मिलनी चाहिए। आप मुसलमानों के संदर्भ में इसे कैसे देखती हैं?

उत्तर : यह एक मुश्किल मुद्दा है, मगर मैं इसे थोड़ा फर्क नजरिए से देखती हूँ। व्यावसायिक शिक्षा अच्छी चीज है और व्यावसायिक शिक्षा को मजबूत किया जा सकता है। शिक्षाविद् भी इससे सहमत होंगे। मगर इसे सिर्फ स्कूल ही नहीं कर सकते। यह एक सामाजिक मुद्दा है। समाज को उन व्यवसायों की इज्जत भी करनी होगी। व्यावसायिक शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि इसके साथ उदारवादी शिक्षा नहीं हो सकती। मैं सोचती हूँ कि व्यावसायिक शिक्षा को पूरी तरह अनदेखा करके हम यह संकेत देंगे कि उन व्यवसायों की समाज में कोई हैसियत नहीं है। व्यावसायिक शिक्षा को वह हैसियत तब मिलेगी जब दोनों को बराबरी का दर्जा मिले। यदि कोई बच्चा व्यावसायिक शिक्षा में जा रहा है तो उसे अच्छे शिक्षार्थी के तौर पर नहीं देखा जाता और उच्च शिक्षा में जा रहा है तो अलग नजर से देखा जाएगा तथा आपको अकादमिक और प्रतिभावान शिक्षार्थी समझा जाएगा।

मुझे लगता है कि यह एक बहुत बड़ी सामाजिक समस्या है कि हम पेशों को कैसी हैसियत देते हैं और समाज में उनका क्या दर्जा है। मैं एक शिक्षाविद् के तौर पर यह नहीं कह सकती कि व्यावसायिक शिक्षा को अलग करो। हमें सोचना होगा कि कामों की हैसियत में *हायररकी* को कैसे मिटाएं। जब तक हम इसे नहीं मिटाएंगे तब तक हम इसे प्रस्तावित नहीं कर सकते। जिन लोगों के पास नौकरी नहीं है वे कहते हैं कि हमें अच्छे प्रशिक्षण दीजिए।

स्विटजरलैंड और जर्मनी में व्यावसायिक शिक्षा को अच्छा दर्जा दिया जाता है। वहां पर व्यावसायिक शिक्षा के संस्थान हैं। मैं नहीं कर रही हूँ कि उसमें बिल्कुल भेद नहीं किया जाता। लेकिन वहां दो-तीन साल तक व्यावसायिक प्रशिक्षण को बहुत ही अच्छे ढंग से दिया जाता है। मसलन, हेयर ड्रेसर का कोर्स। उनको अच्छा प्रशिक्षण और सर्टिफिकेट देकर दो या तीन साल एक सर्टिफाइड संस्था में प्रशिक्षु के तौर पर काम करना होता है। और जब उनको वहां से सर्टिफिकेट मिलेगा कि वे बढ़िया तरीके से काम करने में सक्षम हैं तब ही उन्हें काम करने की इजाजत मिलती है। साथ ही वहां हाथ से काम करने वालों के अच्छे-खासे चार्जेज हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसे प्रशिक्षण लेकर आपको नौकरी नहीं मिलेगी।

एक और चीज देखने की जरूरत है, जिसे बहुत बार सुझाया गया है कि अगर एक बच्चा व्यावसायिक शिक्षा का चयन करता है तो उसके लिए ऐसे रास्ते होने चाहिए कि वह उससे आगे भी जा सके। यानी, यदि कोई बच्चा मैकेनिकल में प्रशिक्षण लेकर इंजीनियरिंग में जाना चाहे तो उसके लिए भी हमारी शिक्षा व्यवस्था में दरवाजे खुले होने चाहिए। इसलिए व्यावसायिक शिक्षा को सोच-समझकर किया जाना चाहिए।

हम कश्मीर में बहुत लोगों से मिले। सैकड़ों लोग कह रहे थे कि शिक्षा इंसान के विकास के लिए है लेकिन उसके साथ नौकरी बहुत जरूरी है। यदि शिक्षा के बाद बच्चों को स्व-रोजगार, सरकारी नौकरी या कोई व्यवसाय नहीं मिल रहा है तो हम बच्चों को क्यों स्कूल भेजें। यह एक जटिल मुद्दा है, मैं इसका कोई सरल जवाब नहीं दे सकती। क्योंकि मैं बहुत चाहती हूँ कि व्यावसायिक शिक्षा को मजबूत किया जाए। आपको व्यवसायों को वह इज्जत देनी होगी जिसकी उन्हें जरूरत है। ऐसे बहुत से बच्चे हैं जो हाथ से बहुत अच्छा काम कर सकते हैं। जब तक यह कहा जाएगा कि वे बौद्धिक नहीं हैं तो यह सही नहीं होगा।

प्रश्न : क्या आपको लगता है कि इससे माध्यमिक शिक्षा में ड्रॉप-आउट भी कम होगा?

उत्तर : हां, लेकिन इसे गंभीरता से लेने की जरूरत है। बहुत लोगों ने पहले यह बात कही है और करने की भी कोशिश की है मगर कहां होता है! जब तक हमारी व्यवस्था में बुनियादी सुविधाएं नहीं होंगी तब तक इसे बढ़ावा देना मेरे हिसाब से अच्छा नहीं है। फिर वही होगा कि जिन बच्चों के बारे में आप सोचते हैं कि ये पढ़ नहीं सकते इनको किसी भी धारा में डाल दो या कुछ भी दे दो क्योंकि ये तो दायम दर्जे के नागरिक हैं। यदि ऐसा होगा तो इससे फर्क पैदा होगा। मगर मुझे लगता है कि शिक्षाविदों को भी इसके बारे में कुछ सोच-समझकर ही प्रस्तावित करना होगा कि इसे कैसे किया जा सकता है। मैं यह नहीं कहना चाह रही कि जो बच्चा हाथ से काम करना चाह रहा है उसके दिमाग नहीं है। कोई भी औसत बच्चा स्कूल पूरा कर सकता है। स्कूल इसी बिना पर बना है कि एक सामान्य बच्चा शिक्षा हासिल कर सकता है। हरेक बच्चे का रुझान अलग होता है। किसी को पढ़ना पसंद है, किसी

को साहित्य पसंद नहीं है। किसी को काल्पनिक चीजें पढ़ना अच्छा लगता है और तथ्यात्मक चीजें बिल्कुल पसंद नहीं हैं। मैं इस बात से पूरी तरह सहमत हूँ कि बच्चों के बौद्धिक स्तरों में बहुत कम फर्क होता है लेकिन रुझानों में काफी फर्क होता है। कैसे होता है यह मैं नहीं कहना चाहती लेकिन वह पैदाइशी तौर पर नहीं होता है। इसकी सांस्कृतिक-सामाजिक, प्रभाव, घर का माहौल आदि ढेर वजह हो सकती हैं। बहुत बच्चों के स्वभावगत फर्क भी होते हैं जैसा कि मनोविज्ञान में बताया गया है। यह सही है कि हम सभी बच्चों को हरेक चीज का थोड़ा प्रशिक्षण दें और उनके विशेष रुझान को आगे बढ़ाने की जरूरत है। लेकिन यह मुसलमानों के बारे में ही नहीं है, हर समुदाय में आपको ऐसे बच्चे मिलेंगे।

हमारे समाज में बहुत से बच्चे हैं जिनके पास साधन नहीं हैं और उन्हें जल्दी नौकरी करनी है। यह हमारे मुल्क की हकीकत है। जो बच्चे पहले बीए और फिर एमए, एमफिल और पीएचडी कर सकते हैं, यह तो एक विलासिता है। यह हर घर में नहीं हो सकता है। जिस घर में कमाने वाला नहीं है वहां बच्चे को कमाना है। वह कहां पांच, आठ, दस साल तक पैसा खर्च करता रहेगा और फिर देखेगा कि नौकरी मिली या नहीं मिली। इसके लिए घर में किसी और को त्याग करना होगा। ऐसे में माता-पिता तो कहेंगे कि हमें कौशलात्मक प्रशिक्षण दीजिए और रोजगार भी दीजिए। ऐसी स्थिति में बच्चों के लिए कौशलात्मक प्रशिक्षण देने और उस तरह की नौकरियां पैदा करने की बहुत जरूरत है। मुसलमानों में भी इसकी मांग बहुत है और इसकी जरूरत भी है।

प्रश्न : प्राथमिक स्तर पर शिक्षण के माध्यम को लेकर एक बहस है। सचर कमेटी रिपोर्ट कहती है कि शिक्षण के माध्यम में उर्दू का नहीं होना भी मुस्लिम बच्चों का शिक्षा से नहीं जुड़ने का एक कारण हो सकता है। वहीं आईसीएसएसआर ने एक बेसलाईन सर्वे करवाया जिससे यह निकलकर आया कि भाषा को लेकर सभी प्रांतों की स्थिति एक जैसी नहीं है। बहुत से प्रांतों में स्थानीय भाषा ही बच्चों की भाषा है। मसलन, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु व आसाम। तो यह कहना कितना उचित है कि मुस्लिम बच्चों को उर्दू में पढ़ाया जाए?

उत्तर : यह थोड़ा जटिल सवाल है। इसके बारे में अभी मैं थोड़ी ज्यादा बात कर सकती हूँ। जैसा मैंने कहा कि मैं कश्मीर के लिए एक विजन डॉक्यूमेंट पर काम कर रही हूँ। यह इतना बड़ा सवाल है कि मैं बता नहीं सकती क्योंकि उर्दू का मसला सिर्फ भाषा या सिर्फ मातृ भाषा का मसला नहीं है। यह अस्मिता, पहचान का एक मसला है। क्योंकि उर्दू को मुसलमानों के साथ जोड़ दिया गया है। अगर तुम इसके इतिहास और राजनीति के बारे में आलोक राय को पढ़ो तो यह मजेदार बहस है। उन्होंने इसके पूरे इतिहास को पता करने की कोशिश की है। हालांकि इस बारे में और बहुत लोगों ने लिखा है। उन्होंने बहुत ही स्पष्टता और सरलता के साथ उर्दू और हिन्दी की राजनीति के इतिहास पर खूबसूरत तरीके से लिखा है कि एक ही जुबान और संरचना है जिसमें से दो अस्मिताएं निकली हैं। एक हिन्दी बन गई और दूसरी उर्दू। और इसमें कितना धार्मिक अस्मिताओं की भूमिका रही है और इसकी राजनीति क्या थी। जो होना था वह हो गया लेकिन अब यह मुसलमानों के लिए अस्मिता का सवाल बन गया है कि उर्दू उनकी जुबान है। यह भी सच है कि पूरे भारत में लगभग सभी मुसलमान कुछ उर्दू बोल लेते हैं। फिर भले ही वह अलग किस्म की हो, खराब उर्दू हो या अच्छी हो।

कश्मीर में 2005 में एक ही दिन में बिना बहस किए कक्षा एक से लेकर आठ तक अंग्रेजी को शिक्षण की भाषा बना दिया गया। यह देश का पहला राज्य है जहां ऐसा हुआ। जो बच्चे कक्षा पांच तक उर्दू माध्यम से पढ़ते आए हैं उन्हें अब कक्षा छः में अंग्रेजी में परीक्षा देनी है। वहां लागू हो गया और किसी ने कुछ नहीं कहा। वहां की राजनैतिक स्थिति के चलते किसी को कुछ पता नहीं चलता कि वहां क्या हो रहा है, सरकार वही करती है जो वह करना चाहती है। इससे स्कूली शिक्षा में गड़बड़ झाला हो गया। गांव के गांव में बच्चे बैठे हैं और सामाजिक विज्ञान और पहली कक्षा की पर्यावरण अध्ययन की किताब अंग्रेजी में पढ़ रहे हैं। न शिक्षक को अंग्रेजी आ रही है न बच्चे को और पढ़े जा रहे हैं। बच्चे रट रहे हैं। जम्मू और कश्मीर छोटा-सा राज्य है और बहुत कम आबादी है फिर भी वहां पर आठ आधिकारिक भाषाएं हैं। इसके अलावा भी हैं। हम यह तय करना चाह रहे थे कि शुरू की एक-दो कक्षाओं में कौनसी

भाषा में पढ़ाया जाए लेकिन वहां पर इतनी ध्रुवीकृत बहस हो रही है कि हमारी मातृ जबान उर्दू है। जो दो या तीन पीढ़ियां उर्दू पढ़ चुकी हैं वे समझते हैं कि उनकी मातृ जबान उर्दू है। वे कहते हैं कि हम उर्दू बोलते हैं और उर्दू में सोचते हैं। हमारे बच्चे अब घर में कश्मीरी नहीं बोलते। आप कैसे उन्हें कश्मीरी में पढ़ाना चाहते हैं। उर्दू को 1952 में आधिकारिक तौर पर कश्मीरियों की मातृ जबान घोषित किया गया है। उस वक्त यह चर्चा हुई थी कि कश्मीरियों को कश्मीरी पढ़ाते जाओगे तो ये कुछ नहीं कर सकेंगे। पहले ही बहुत पिछड़ा राज्य है। उर्दू पढ़ेंगे तो थोड़ा आगे बढ़ेंगे। इस तरह के निर्णय जटिल और भ्रामक हो जाते हैं। मेरी राय है कि समुदाय के साथ मशविरा करके पूछा जाए कि बच्चों को किस जुबान में पढ़ाया जाए। इसकी एक मुश्किल यह भी है कि यदि आप माता-पिता से खासकर गरीब तबके से पूछो तो वे कहेंगे कि अंग्रेजी। हम शिक्षाविद् समझते हैं कि मातृ जबान अच्छी बात है। इस पर बहुत चर्चा होने की जरूरत है। यह मुसलमान ही नहीं हरेक के लिए सरल और सुलझा हुआ मसला नहीं है। यह सही है कि मुसलमानों का उर्दू के साथ अस्मिता का जुड़ाव है जिसका अहसास रखना होगा। लेकिन यह भी सच है कि हर मुसलमान के लिए उर्दू पहली भाषा नहीं है। पश्चिम बंगाल में यह बहस हो रही है। वहां उर्दू बोलने वाले मुसलमान भी बहुत हैं और बंगाली बोलने वाले भी बहुत हैं। वहां पर अब उनकी कौनसी भाषा होनी चाहिए? क्या हर स्कूल में उर्दू जरूर पढ़ानी चाहिए? बंगाली मुस्लिम आबादी कह रही है कि नहीं हमें उर्दू पढ़नी है। इसे शिक्षा के लिहाज से सोचकर देखना होगा। मगर हम नहीं भुला सकते कि यह सिर्फ एक शैक्षिक ही नहीं राजनैतिक मुद्दा भी है।

प्रश्न : आप अल्पसंख्यक आयोग की सदस्य हैं। मैं यह जानना चाह रही थी कि सरकार की बहुत-सी योजनाएं हैं और यह कहा जा रहा है कि इनमें मुसलमान बच्चों की भागीदारी बढ़ानी है। जैसे, सर्व शिक्षा अभियान, कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय, जवाहर नवोदय विद्यालय आदि। प्रधानमंत्री का 15 बिन्दुओं का भी कार्यक्रम है। इनमें मुसलमानों की भागीदारी अभी भी कम है। क्या वजह है कि इन योजनाओं का मुसलमान फायदा नहीं उठा पा रहे हैं? या ये उन तक पहुंच ही नहीं रही हैं?

उत्तर : आयोग की इसमें बड़ी भूमिका और रोजमर्रा में इसका फोलो-अप करना भी एक एजेण्डा है। अल्पसंख्यक मामलात मंत्रालय से भी पिछले साल काफी सारी नई योजनाएं निकली हैं। एक बात तो यह है कि ऐसी योजनाएं बनती बहुत हैं लेकिन उनका क्रियान्वयन असरदार नहीं होता। हमने अभी सरकार की घर बनाने की योजना के आंकड़े और स्थिति राज्य सरकारों से मांगी है। वे भेजेंगे। जो निर्धारण हुआ है वह बहुत अच्छा है। फिर हमने उनसे इसके पूरे होने के आंकड़े मांगे हैं। लक्ष्य के मुताबिक 5 से 10 प्रतिशत के आसपास ही काम पूरा हुआ है। क्योंकि उसमें कुछ शर्तें हैं जो पूरी नहीं हो पा रही हैं, जैसे केन्द्र और राज्य सरकारों की ओर से आने वाली वित्तीय सहायता। यह सिर्फ मुसलमानों के लिए नहीं है ऐसा तो अन्य समुदायों के साथ भी होता है। लेकिन एक महत्वपूर्ण बात यह देखी गई है कि इन योजनाओं के प्रति मुसलमानों में जागरूकता बहुत कम है। इसके लिए यह जरूरी है कि सरकारें कुछ ऐसे साधन तैयार करें जिनसे योजनाओं के बारे में लोगों को पता चले।

अभी दो महीने पहले सभी राज्यों के साथ एक सालाना कांफ्रेंस हुई थी। उसमें सभी राज्यों के अल्पसंख्यक आयोगों की ओर से यह सुझाव आया था कि इन योजनाओं के बारे में टीवी पर, स्थानीय अखबारों में और उर्दू अखबारों में घोषणा हो। यह भी देखा जाए कि उन इलाकों में कौनसे अखबार पढ़े जा रहे हैं ताकि हर मुसलमान तक योजनाओं की जानकारी पहुंच सके। बहुत से लोग अनपढ़ हैं तो सामाजिक संगठनों के जरिए भी खबर पहुंचाई जाए। यह सब करने की कोशिश हो रही है।

इसके साथ ही एक समस्या यह है कि इस तरह की योजनाओं में छुपी हुई लागत भी होती है और लोग उसे वहन नहीं कर पाते हैं। दूसरे इन योजनाओं में कुछ पैसा केन्द्र सरकार देती है और कुछ राज्य सरकारों को मिलाना होता है तो कई बार ये दोनों नहीं मिल पातीं। लेकिन यह भी सच है कि मुस्लिम समुदाय में इन योजनाओं के प्रति जागरूकता कम है।

प्रश्न : कुछ जगह यह भी कहा जा रहा था कि संविधान का अनुच्छेद 30 कहता है कि आप अपने शैक्षिक संस्थान

शुरू कर सकते हैं। लेकिन कुछ रिपोर्ट का कहना कि इसमें मुसलमानों को काफी गंभीर परेशानियों का सामना करना पड़ता है।

उत्तर : यह शिकायत हर वक्त आती है। इसमें थोड़ा सुधार भी आ रहा है। अल्पसंख्यक संस्थाओं को मान्यता देने वाला एक बोर्ड है। जब से यह बना है मुझे लगता है कि इसमें थोड़ा सुधार हुआ है। मगर यह बहुत सही है और इस तरह की शिकायतें हर जगह आती हैं। यदि मुसलमान संस्था स्थापित करना चाहते हैं तो उन्हें पेशानी ज्यादा होती है और उसी वक्त में तीन दूसरे संस्थान स्थापित हो जाएंगे। लेकिन इसकी क्या वजह है, यह साफ तौर से कहना मुश्किल है और इसके लिए प्रमाण चाहिए। मैं सीधे तौर पर नहीं कहना चाहती कि सभी पूर्वाग्रहित हैं। हो सकता है कि इन संस्थाओं के बारे में कुछ शंका रहती हो या हो सकता है कि इन संस्थाओं को अनुमति देने से पहले ज्यादा सावधानी बरतते हुए छंटवाई की जाती हो, और मैंने लोगों से सुना है कि भ्रष्टाचार भी इसकी एक वजह है।

यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव भी रहा है। मैं देहली एज्युकेशन सोसाइटी के तीन मुस्लिम स्कूलों की मैनेजर रही हूँ। ये तीनों सरकारी सहायता प्राप्त स्कूल हैं और बहुत जाने-माने, अच्छे और पुराने स्कूल हैं। इनके साथ एक नया अंग्रेजी माध्यम का मॉडल स्कूल बनाया था। उसकी मान्यता के लिए इतनी भाग-दौड़ करनी पड़ी कि हमें लगा एक यूनिवर्सिटी प्रोफेसर को इतना भगा रहे हैं तो आम लोगों को कितना तंग करते होंगे। हमने पैसा-वैसा तो कुछ नहीं दिया लेकिन बहुत वक्त लगा और जहां कहीं भी हमारे संपर्क थे उनकी मदद लेनी पड़ी।

प्रश्न : आपके हिसाब से शिक्षा को और समावेशी बनाने के लिए किस तरह के हस्तक्षेप की जरूरत है?

उत्तर : एक तो पाठ्यचर्या में संवेदनशीलता लाने की जरूरत है। पहले एक ऐसी पाठ्यचर्या थी जिसमें पांच में से एक हिन्दू, एक ईसाई, एक सिख और एक मुसलमान बच्चे को पाठ में डाल दिया जाता था। लेकिन उसका कोई असर हुआ नहीं है। आजादी के बाद हमारा राष्ट्र निर्माण का एजेण्डा था, अनेकता में एकता। उन्होंने इसे इसी तरह लाने की कोशिश की लेकिन सफल नहीं हुई। मुमकिन है कि इसे अच्छे मकसद से रखा गया होगा। कुछ किताबों में एक टोपी वाला मुसलमान बैठा है, ऐसे ही चित्रण किया गया कि टोपी पहनने वाले मुसलमान हैं। सरदार जी पगड़ी बांधे हैं। इसी तरह एक ईद पर अध्याय जोड़ दिया और एक किसी और पर। और यह मान लिया जाता था कि अल्पसंख्यकों को शामिल कर लिया गया है। यह भी है कि तब तक पाठ्यचर्या के बारे में इतने विस्तार से नहीं सोचा गया था। 2005 के बाद इसे बहुत गौर से देखा गया है कि उन्हें कैसे शामिल किया जाए और सिर्फ नाममात्र की पहचान नहीं दी जाए। ये चीजें आहिस्ता-आहिस्ता से काम करेंगी।

2005 की पाठ्यचर्या में इसकी काफी कोशिश हुई है। मगर इसके साथ-साथ शिक्षकों को इन मुद्दों पर प्रशिक्षित करने की बहुत जरूरत है। हमारे शिक्षण संस्थानों में मुसलमान समुदाय और संस्कृति के प्रति संवेदनशीलता बहुत कम है। मैं यह अपने अनुभव से कह रही हूँ। केन्द्रीय शिक्षण संस्थान जैसे प्रमुख संस्थानों में रहते हुए जब मैं हमारे शिक्षार्थियों का निरीक्षण करने जाती थी तो वहां यह साफ जाहिर होता था। इसीलिए मैं कहती हूँ कि शिक्षक प्रशिक्षण का मतलब यह नहीं है कि चार सुझाव दे दिए कि ये करना है वो करना है। शिक्षक प्रशिक्षण के जरिए सोचने के तरीकों को बदलने की जरूरत है कि वे गहराई से चीजों को समझने में मददगार हों।

एक बार मेरा एक बहुत ही अच्छा संवेदनशील शिक्षार्थी जो शायद मजदूर वर्ग से आता था। वह एक कक्षा में पढ़ा रहा था। एक कविता थी मजदूर पर, कि वह कितना खुश है। दिनभर काम करके चैन की नींद सोता है। उसने बहुत ही अच्छे तरीके से वह कविता पढ़ाई। शब्दों के अर्थ बताए और सवाल-जवाब करवाए। लेकिन उसने कविता में सामाजिक मुद्दों को देखा ही नहीं था। जब कक्षा खत्म हुई तो मैंने उसको बुलाया और कहा कि तुम देख रहे हो न कि ये सब बच्चे मजदूर परिवारों से हैं। तुम्हें लगता है कि मजदूर की जिन्दगी इतनी खुशहाल है। तुम्हें इस तरह पढ़ाते हुए बिल्कुल झिझक नहीं हुई। हकीकत में एक मजदूर की जिन्दगी कितनी मुश्किल है। उसने कहा कि मैम, मैंने बिल्कुल नहीं सोचा। वह सोचने लगा। उसने कहा अब मैं क्या करूं। मैंने कहा कि तुम एक चर्चा शुरू कर सकते

थे कि हम इन लोगों के साथ कैसे बर्ताव करते हैं? उन्हें क्या-क्या काम करने पड़ते हैं? उन्हें कितना पैसा मिलता है आदि। यदि ऐसा करते तो एकदम अलग तरह की चर्चा होती। फिर उसने वही किया। सभी बच्चे इस चर्चा में बहुत ही अच्छे से जुड़े। वह बहुत ही संवेदनशील था लेकिन उसने सोचा नहीं कि कविता को आलोचनात्मक नजर से देखने की जरूरत है।

मैं यह नहीं कर रही हूँ कि कोई शिक्षक सांप्रदायिक ही है लेकिन हमारी मुख्यधारा संस्कृति इन मुद्दों को लेकर असंवेदनशील है। बहुत-सी रूढ़िवायियाँ बनी हुई हैं इसलिए उनके प्रशिक्षणों में थोड़े से सवाल उठाए जाने की जरूरत है। इससे कक्षा में बहुत बड़े बदलाव ला सकते हैं। इसीलिए शिक्षक प्रशिक्षण के बारे में बहुत सोचने की जरूरत है।

मुझे लगता है कि सच्चर कमेटी बनी और उसकी रिपोर्ट आई और उससे जो सार्वजनिक चर्चा में आया, उससे बहुत बदलाव आया है। मैं नहीं कह रही हूँ कि पूरे देश में एक जैसी स्थिति है लेकिन सोचने-समझने वालों में और जिनका इन समस्याओं से सरोकार है, उनके सामने वे आंकड़े आए हैं। इससे थोड़ी-बहुत चेतना आई है। इससे मुसलमानों के बारे में बनी रूढ़िवायियों को तोड़ने में मदद मिली है। इससे यह भी छवि टूट रही है कि मुसलमानों का तुष्टीकरण किया जाता है। आज दुनिया भर में जो स्थिति है, इस्लाम के नाम पर जो राजनीति हो रही है, उससे भी मुस्लिम समुदाय पर असर पड़ा है। उन्हें भी यह महसूस हुआ है कि यदि कोई हमारी मदद नहीं कर रहा है तो हम खुद अपने-आप करेंगे। मैं सोचती हूँ कि अस्मिता की राजनीति कुछ ज्यादा ही हो रही है और उसका भी असर है। जो माता-पिता अपने बच्चों को पहले मदरसों में नहीं भेजते थे, मदरसा मतलब किसी भी तरह का मदरसा, वे भी आजकल कहते हैं कि कोई बात नहीं थोड़ा-सा इस्लाम के बारे में भी सीख ले। 1992 के बाद मुल्क में जो ध्रुवीकरण हुआ है उसके बाद मुसलमान बच्चे मदरसों में ज्यादा सुरक्षित महसूस करते हैं। इसके बाद मुस्लिम समुदाय भी अपने बारे में सोचने लगा है।

अब यह भी है कि शिक्षा से ही समुदाय का सब कुछ नहीं बदल जाता। मुझे लगता है कि यह उम्मीद करना कुछ ज्यादा है कि शिक्षा हो गई तो सब कुछ बदल जाएगा। मगर हर समुदाय में और मुसलमानों में भी यह उम्मीद तो जरूर होती है कि यदि शिक्षा हो गई तो रोजगार मिल जाएगा। मगर मुझे लगता है कि इस व्यवस्था में बहुसंख्यक मुस्लिम आबादी अभी भी उपेक्षित है। वहां सरकारी स्कूलों को कम वित्तीय मदद दी जाती है। बुनियादी सुविधाएं उतनी अच्छी नहीं हैं। शिक्षक भी उतने अच्छे नहीं हैं और मुस्लिम संस्कृति के प्रति संवेदनशीलता भी बहुत कम है। अगर शिक्षा से जुड़े लोग इन मुद्दों पर संवेदनशीलता के साथ सोचने लगे तो शिक्षा में बदलाव आएगा। ♦

भूल सुधार

शिक्षा विमर्श के पिछले अंक में पल्लव के समीक्षा आलेख के साथ एक टिप्पणी 'नीरव संध्या का शहर' चित्रकथा पर भी प्रकाशित हुई है। कथाकार और जानकीपुल के मॉडरेटर प्रभात रंजन की यह टिप्पणी http://www.jankipul.com/2014/07/blog-post_5.html पल्लव ने शिक्षा विमर्श के ध्यान में लाने के लिए भेजी थी लेकिन भ्रमवश यह उनकी समीक्षा के साथ चली गई। इस भूल के लिए हम पाठकों और दोनों लेखकों से खेद व्यक्त करते हैं।

संपादक